

VRI Series No. 111

# धर्म क्या है ?

सत्यनारायण गोयन्का



विपश्यना विशोधन विन्यास,  
धम्मगिरि, इगतपुरी- ४२२ ४०३,  
महाराष्ट्र, भारत

## विपश्यना: एक परिचय

श्री गोयन्काजीने म्यंमा के महान विपश्यना आचार्य सयाजी ऊ बा खिन से सर्वप्रथम सन १९५५ में 'विपश्यना' की साधना सीखी। तब से अभ्यास का क्रम जारी रहा। सन १९६९ में भारत आये। व्यापार-धंधे से सर्वथा अवकाशग्रहण कर भारत के विभिन्न स्थानों पर **विपश्यना** साधना-विधि के दस दिवसीय शिविर लगाते रहे। सन १९७६ में प्रमुख विपश्यना केंद्र 'धम्मगिरि' की स्थापना के पश्चात अब तक पूरे विश्व में लगभग ५० विपश्यना केंद्र स्थापित हो चुके हैं तथा अन्य नए-नए केंद्र खुलते चले जा रहे हैं, जहां साधकों के लिए निःशुल्क निवास तथा भोजनादि की स्थाई व्यवस्था रहती है। विपश्यना सिखाने का सारा खर्च कृत्त साधकों के दान पर निर्भर होता है। शिविरों का संचालन पूज्य गोयन्काजी तथा उनके द्वारा नियुक्त विश्व भर के लगभग ४०० से अधिक सहायक आचार्यों द्वारा किया जाता है। शिविर-कालके दौरान साधकोंको बाहरी संपर्क से दूर, केंद्रों पर ही रहना अनिवार्य होता है।

भगवान गौतम बुद्ध द्वारा गवेषित 'विपश्यना' विद्या सर्वथा संप्रदायहीन एक प्रयोग प्रधान विधा है जिसमें अपने भीतर की सच्चाई का दर्शन करते हुए अपने मन को निर्मल बनाना तथा ऋतयानी प्रकृति के नियम के अनुसार आचरण करने का अभ्यास किया जाता है। इसी को धर्म कहते हैं। कालांतर में हम **धर्म** शब्द का सही अर्थ भूल गये और संप्रदाय को ही धर्म मानने लगे। आज जबकि धर्म के नाम पर चारों ओर इतनी अराजकता फैली हुई है, यह सांप्रदायिकता-विहीन विद्या घोर अंधकार में प्रकाश-स्तंभ सदृश है।

ध्यान की यह विद्या सीखने के लिए हर संप्रदाय के लोग - चाहे वे हिंदू हों या मुस्लिम; जैन, ईसाई, बौद्ध हों या सिक्ख - सभी आते हैं। बच्चों से लेकर वृद्ध बुजुर्गों तक सब उम्र के लोग आते हैं। बहुत ऊंची शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी आते हैं तो दूसरी ओर बिल्कुल निरक्षर अनपढ़ लोग भी आते हैं। अत्यंत धन-संपन्न भी आते हैं और बिल्कुल धनहीन भी। पुरुष-नारी तथा डॉक्टर, वकील, इंजीनियर, व्यापार-उद्योगों के संचालक सभी आते हैं। किसी भी विपश्यना शिविर में समाज के हर वर्ग का यह अनूठा संगम आसानी से देखा जा सकता है। इतनी विविधताओं के होते हुए भी सभी लोग लाभान्वित होते हैं।

पूज्य श्री गोयन्काजी का यह लेख अधिक से अधिक लोगों को धर्म-मार्ग पर चल सकने के लिए प्रेरणा प्रदायक सिद्ध हो, यही मंगल भावना है।

## विपश्यना विशोधन विन्यास.

मूल्य: रु. १/-

प्रकाशक :

### विपश्यना विशोधन विन्यास

धम्मगिरि, इगतपुरी- ४२२४०३, जिला- नाशिक, महाराष्ट्र, भारत

फोन: ०२५५३- २४४०७६, २४४०८६, २४४३०२ फैक्स: ०२५५३- २४४१७६.

## धर्म क्या है ?

धर्म जीवन जीने की कला है। स्वयं सुख से जीने की तथा औरों को सुख से जीने देने की। सभी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं, दुखों से मुक्त रहना चाहते हैं। परंतु जब हम यह नहीं जानते कि वास्तविक सुख क्या है और यह भी नहीं जानते कि उसे कैसे प्राप्त किया जाए तो झूठे सुख के पीछे बावले होकर दौड़ लगाते हैं। वास्तविक सुख से दूर रहकर अधिक-अधिक दुखी होते हैं। स्वयं को ही नहीं औरों को भी दुखी बनाते हैं।

वास्तविक सुख आंतरिक शांति में है और आंतरिक शांति चित्त की विकार-विहीनता में है, चित्त की निर्मलता में है। चित्त की विकार-विहीन अवस्था ही वास्तविक सुख-शांति की अवस्था है।

सच्ची शांति और सच्चा सुख वही भोगता है जो निर्मल चित्त का जीवन जीता है। जो जितना विकारमुक्त रहता है उतना ही दुख-मुक्त रहता है, उतनी ही जीवन जीने की सही कला जानता है, उतना ही सही माने में धार्मिक होता है। निर्मल चित्त का आचरण ही धर्म है। यही जीने की कला है। इसमें जो जितना निपुण है वह उतना ही अधिक धार्मिक है। धार्मिक की यही सही परिभाषा है।

प्रकृति का एक अटूट नियम है जिसे कोई ऋतु कहले अथवा धर्म-नियामकता कहले, नाम के भेद से कोई अंतर नहीं पड़ता। नियम यह है कि ऐसा किया जायगा तो उसका ऐसा परिणाम आयेगा ही। वैसा नहीं किया जायगा तो वैसा परिणाम नहीं आसकता। कारणोंके परिणामस्वरूप जो कार्यसंपन्न होता है, उन कारणोंके नहीं रहने से वह कार्य नहीं होसकता। इस नियम के अनुसार जब-जब हमारा मन द्वेष, दौर्मनस्य, क्रोध, ईर्ष्या, भय आदि से आक्रांत हो उठता है, तब-तब हम व्याकुल हो जाते हैं। दुख-संतापित होकर सुख से वंचित हो जाते हैं। जब-जब हमारा मन ऐसे विकारोंसे विकृत नहीं रहता, तब-तब हम व्याकुलतासे मुक्त रहते हैं। दुख-संतापित होने से बचे रहते हैं। अपनी आंतरिक सुख-शांति के मालिक बने रहते हैं।

जो विकारोंसे मुक्त रहना सिखाती है वही जीवन जीने की सही कला है। वही शुद्ध धर्म है। शुद्ध धर्म का स्वरूप बड़ा ही मंगलमय और कल्याणप्रद है। हम जब-जब विकार-विमुक्त होकर निर्मल चित्त से आचरण करते हैं, तब-तब स्वयं तो वास्तविक सुख-शांति भोगते ही हैं औरों की सुख-शांति का भी कारण बनते हैं। इसी प्रकार जब-जब विकारग्रस्त होकर मलिन चित्तजन्य आचरण करते हैं, तब-तब स्वयं तो संतापित होते ही हैं औरों के संताप का भी कारण बनते हैं। समाज की शांति भंग करते हैं।

क्रोध, लोभ, वासना, भय, मात्सर्य, ईर्ष्या, अहंकार आदि मनोविकारों के शिकार बन हम हत्या, चोरी, व्यभिचार, झूठ, छल-कपट, चुगली, परनिंदा, निरर्थक बकवास करते हैं, कडुवा-कठोर बोलते हैं; और जब-जब ऐसा करते हैं, तब-तब आत्म तथा पर-संताप का कारण बनते हैं। मनोविकारों के बिना कोई भी शारीरिक या वाचिक दुष्कर्मसंपन्न हो नहीं सकता। परंतु यह अनिवार्य नहीं है कि मनोविकारों के उत्पन्न होने पर हम कायिक और वाचिक दुष्कर्म करें ही। बहुधा प्रबल मनोविकारों के उत्पन्न होने के बावजूद भी आत्मदमन द्वारा हम ऐसे कायिक और वाचिक दुष्कर्मों से बच जाते हैं। इससे प्रत्यक्षतः औरों की हानि नहीं कर पाते। परंतु फिर भी दूषित मनोविकारों से आक्रांत होकर यदि मन ही मन व्याकुल रहते हैं तो मानसिक दुष्कर्म तो करते ही हैं। इससे अपनी शांति खोते हैं; परोक्षतः औरों की शांति भी भंग करते हैं। हमारे मन की दूषित तरंगों आस-पास के वातावरण को प्रभावित और दूषित किये बिना नहीं रह सकतीं।

जब-जब हमारा मन विकार-विमुक्त और निर्मल होता है, तब-तब स्वाभाविक ही वह स्नेह और सद्भाव से, मैत्री और करुणा से भर उठता है। उस समय हम स्वयं तो सुख-शांति का अनुभव करते ही हैं, परोक्षतः औरों की भी सुख-शांति का कारण बनते हैं। हमारे निर्मल चित्त की तरंगों आस-पास के वातावरण को प्रभावित कर उसे यथाशक्ति निर्मल बनाती हैं।

अतः आत्मदमन ही धर्म की सर्वांग संपूर्णता नहीं है। लेकिन धर्म धारण करने का पहला कदम यहीं से आरंभ होता है। पहले तो संयम-संवर द्वारा ही हम कायिक और वाचिक दुष्कर्मों से विरत होवें और फिर सतत अभ्यास द्वारा मानसिक दुष्कर्म से भी छुट्टी पा लें। मानसिक दुष्कर्मों से छुट्टी पाने का अर्थ है मानसिक विकारों से मुक्त हो जाना। विकार-विहीन निर्मल चित्त अपने सहज स्वभाव से ही कोई मानसिक, वाचिक या शारीरिक दुष्कर्म नहीं कर सकेगा। अतः मुख्य बात है अपने चित्त को विकारों से विमुक्त रखना।

हम अपने प्रत्येक कर्म के प्रति जागरूक रह कर ही उसे दोषमुक्त रख सकते हैं। अपने चित्त और चित्त के विकारों के प्रति जागरूक रह कर ही उसे विकारमुक्त रख सकते हैं। उसके प्रति अनजान और मूर्च्छित रहते हुए हम उसे कदापि स्वच्छ नहीं कर सकते, उसकी स्वच्छता को कायम नहीं रख सकते। अतः अपने शारीरिक, वाचिक और मानसिक कर्मों का, अपने चित्त और चित्तवृत्तियों का सतत निरीक्षण करते रहने का अभ्यास ही धर्म धारण करने का सही अभ्यास है। किसी भी कर्म के करने से पूर्व और करते समय हम यह जांच करें कि इस कर्म में हमारा तथा अन्यो का मंगल समाया हुआ है अथवा अमंगल। यदि मंगल है तो वह काम करें और यदि अमंगल हो तो न करें। इस प्रकार भलीभांति विवेक पूर्वक जांच कर किया गया कर्म सर्वमंगलमय ही होगा। अतः धर्ममय ही होगा। यदि कभी अनवधानतावश बिना जांच किये कोई कायिक या वाचिक दुष्कर्म हो गया, जो कि अपने तथा अन्यो के लिए अहितकर हुआ तो उसे लेकर प्रायश्चित्त करते हुए रो-रोकर किसी अपराध-ग्रंथि से ग्रस्त न हो जाएं, बल्कि शीघ्र से शीघ्र अपने किसी साथी साधक अथवा गुरुजन से मिल कर, उनके

सम्मुख अपनी भूल प्रकट कर, उसे स्वीकार कर लें और उस भार से मुक्ति पाएं तथा भविष्य में और अधिक सावधान रहने के लिए कृतसंकल्प बनें। चित्त के प्रति भी इसी प्रकार जागरूकता का अभ्यास बढ़ाएं। जब-जब चित्त पर कोई विकार जागे, तत्क्षण उसका निरीक्षण करें। साक्षी की तरह निरीक्षण करने मात्र से वह दुर्बल होते-होते विनष्ट हो जायगा। कभी अनवधानतावश उसका निरीक्षण न कर पाएं और परिणामतः वह हम पर हावी हो जाय तो उसे भी याद करके रोएं नहीं, बल्कि और अधिक सावधान रहने के लिए कृतसंकल्प हों और जागरूकता का अभ्यास बढ़ाएं। शुद्ध धर्म में प्रतिष्ठापित होने का यही वैज्ञानिक तरीका है।

जिस अभ्यास से अपने कर्मों के प्रति जागरूकता और सावधानी बढ़ती हो वही शुद्ध धर्म का अभ्यास है। जिस विधि से अपने कर्मों को सुधारने वाली चित्त-निर्मलता प्राप्त होती हो, वही धर्मविधि है।

जब हम आत्मनिरीक्षण कर अनुभूतियों के बल पर देखते हैं तो पाते हैं कि प्रत्येक दुष्कर्म का कारण अपने चित्त की मलीनता है। कोई न कोई मनोविकार है। हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक विकार का कारण अपने ही अहम् के प्रति उत्पन्न हुई गहन आसक्ति है। जब-जब आसक्ति के अंधेपन में इस 'मैं' को अत्यधिक महत्त्व देकर इससे चिपक जाते हैं, तब-तब संकुचित दायरे में आबद्ध होकर मन मलीन कर कोई न कोई ऐसा कर्म कर लेते हैं जो कि परिणामतः अकुशल होता है।

आत्मनिरीक्षण के अभ्यास द्वारा स्वानुभूतियों के बल पर ही यह स्पष्ट होता है कि जब-जब स्वार्थांध होकर हम विकारग्रस्त होते हैं, तब-तब औरों का अहित तो करते ही हैं, अपना सच्चा स्वार्थ भी नहीं साध पाते। और जब-जब इस अंधेपन से मुक्त रहते हैं, तब-तब आत्महित और परहित दोनों साधते हैं। आत्महित और परहित साधने का कर्म ही धर्म है। जहां आत्मलाभ के साथ-साथ पर-लाभ भी सधता हो, वही धर्म है। जहां किसी का भी अहित होता हो, वहां अधर्म ही अधर्म है। आत्मोदय और सर्वोदय का सामंजस्यपूर्ण स्वस्थ जीवन ही धर्म है। आत्मोदय और सर्वोदय अन्योन्याश्रित हैं।

हमारे सत्कर्म और दुष्कर्म केवल हमें ही सुखी-दुखी नहीं बनाते, बल्कि हमारे अन्य संगी-साथियों को भी प्रभावित करते हैं। मनुष्य समाज के अन्य सदस्यों के साथ रहता है। वह समाज का अविभाज्य अंग है। समाज द्वारा स्वयं प्रभावित होता है और समाज को भी थोड़ा-बहुत प्रभावित करता रहता है। इसलिए धर्म साधन द्वारा जब हम नैतिक जीवन जीते हैं, दुष्कर्मों से बच कर सत्कर्मों में लगते हैं तो केवल अपना ही भला नहीं करते, बल्कि औरों का भी भला साधते हैं।

जीवनमूल्यों के लिए ही तो धर्मसाधना है। यदि धर्म के अभ्यास से जीवनमूल्य ऊंचे नहीं उठते, हमारा लोक-व्यवहार नहीं सुधरता, हम अपने लिए तथा औरों के लिए मंगलमय जीवन नहीं जी सकते तो ऐसा धर्म हमारे किस काम का? किसी के भी किस काम का? धर्म इसलिए है कि हमारे पारस्परिक संबंध सुधरें।

हममें व्यवहार-कौशल्य आये। परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रीय सारे पारस्परिक संबंध व्यक्ति-व्यक्ति के संबंधों पर ही निर्भर होते हैं। अतः शुद्ध धर्म यही है कि प्रत्येक व्यक्ति यहीं, इसी जीवन में औरों के साथ अपना व्यवहार-संबंध

सुधारे। इसी जीवन में सुख-शांति से जीने के लिए धर्म है। मृत्यु के बाद बादलों के ऊपर कि सी अज्ञात स्वर्ग का जीवन जीने के लिए नहीं। मृत्यु के बाद पृथ्वी के नीचे कि सी अनजान नरक से बचने के लिए नहीं। बल्कि हमारे ही भीतर समायें हुए स्वर्ग का सुख भोगने के लिए, हमारे अपने ही भीतर समय-समय पर यह जो नारकीय अग्नि जल उठती है, उसे शांत करने के लिए; उससे बचने के लिए। धर्म सांत्वष्टिक है, प्रत्यक्ष है। इसी जीवन, इसी लोक के लिए है। वर्तमान के लिए है। जिसने अपना वर्तमान सुधार लिया, उसे भविष्य की चिंता करने की जरूरत नहीं। उसका भविष्य स्वतः सुधर जाता है। जिसने लोक सुधार लिया, उसे परलोक की चिंता नहीं। उसका परलोक स्वतः सुधर जाता है। जो अपना वर्तमान नहीं सुधार सका, अपना इहलोक नहीं सुधार सका और केवल भविष्य की ओर आशा लगाये, परलोक की ओर टकटकी लगाये बैठा है, वह अपने आपको धोखा देता है। अपने वास्तविक मंगल से वंचित रहता है। शुद्ध धर्म से दूर रहता है। धर्म अकालिक होता है। यानी अभी इसी जीवन में फल देने वाला होता है। धर्म के नाम पर कोई अनुष्ठान करें और उसका लाभ यहां न मिले, विकार-विहीन चित्त की निर्मलता का वास्तविक सुख यहीं इसी जीवन में न मिले, तो समझना चाहिए कि सी धोखे में उलझ रहे हैं। शुद्ध धर्म से वंचित हो रहे हैं। धर्म सब के लिए इसी जीवन को सुख-शांतिमय बनाने हेतु है। आंखों के परे कि सी सुदूर भविष्य की निरर्थक चिंता से मुक्त होने के लिए है। यही धर्म है। यही धर्म की शुद्धता है। यही शुद्ध धर्म का जीवन है, जिसकी आवश्यकता सार्वजनीन है।

धर्म सार्वजनीन है, इसलिए शुद्ध धर्म का संप्रदाय से कोई संबंध नहीं, कोई लेन-देन नहीं। शुद्ध धर्म के पथ का पथिक जब धर्म पालन करता है तब कि सी संप्रदाय-विशेष के थोथे निष्प्राण रीति-रिवाज पूरे करने के लिए नहीं, कि सी ग्रंथ-विशेष के विधि-विधान का अनुष्ठान पूरा करने के लिए नहीं, मिथ्या अंधविश्वासजन्य रूढ़ि-परंपरा का शिकार होकर कि सी लकीर का फकीर बनने के लिए नहीं, बल्कि शुद्ध धर्म का अभ्यासी अपने जीवन को सुखी और स्वस्थ बनाने के लिए ही धर्म का पालन करता है। धार्मिक जीवन जीने के लिए धर्म को भलीभांति समझकर, उसे आत्मकल्याण और परकल्याण का कारण मान कर ही उसका पालन करता है। बिना समझे हुए केवल अंधविश्वास के कारण अथवा कि सी अज्ञात शक्ति को संतुष्ट-प्रसन्न करने के लिए अथवा उसके भय से आशंकि-त-आतंकि-त-होकर धर्म का पालन नहीं करता। धर्म का पालन दूषणों का दमन करने के लिए ही नहीं, बल्कि प्रज्ञापूर्वक उनका पूर्ण शमन और रचन करने के लिए करता है। धर्म का पालन केवल अपने ही लिए नहीं, बल्कि बहुजन के हित-सुख, मंगल-कल्याण और बहुजन की स्वस्ति-मुक्ति के लिए करता है।

धर्म का पालन यही समझ कर करना चाहिए कि वह सार्वजनीन है, सर्वजनहितकारी है; कि सी संप्रदाय-विशेष, वर्ग-विशेष या जाति-विशेष से बँधा हुआ नहीं है। यदि ऐसा हो तो उसकी शुद्धता नष्ट हो जाती है। धर्म तभी तक शुद्ध है, जब तक सार्वजनीन, सार्वदेशिक, सार्वकालिक है। सबके लिए एक-जैसा कल्याणकारी, मंगलकारी, हित-सुखकारी है। सबके लिए सरलतापूर्वक बिना हिचक के ग्रहण कर सकने योग्य है।

शुद्ध वायुमंडल में रहना, शुद्ध-स्वच्छ हवा का सेवन करना, शरीर स्वच्छ रखना, साफ-सुथरे कपड़े पहनना, शुद्ध सात्विक भोजन, मुझे इसलिए करना चाहिए कि यह मेरे लिए हितकर है। परंतु यह केवल मेरे लिए ही नहीं, कि सी एक जाति-विशेष, वर्ग-विशेष या संप्रदाय-विशेष के लिए ही नहीं, बल्कि सबके लिए समान रूप से हितकर है। केवल में ही नहीं, कोई भी व्यक्ति यदि अशुद्ध, अस्वस्थ वातावरण में रहता है, गंदी विषैली वायु का सेवन करता है, अपने शरीर और वस्त्रों को गंदा रखता है, अस्वच्छ-दूषित भोजन करता है तो अपने स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है, रोगी और दुखी होता है। यह नियम सार्वजनीन है। कि सी एक व्यक्ति-विशेष, कि सी एक जाति-विशेष पर ही लागू नहीं होता। ठीक इसी प्रकार जब कोई अपने मन को विकारों से विकृत करता है तो व्याकुल होता है। उसके वात-पित्त-कफ में विषमता पैदा होती है। वह रोग-ग्रस्त होता है। स्वास्थ्य-विज्ञान के सामान्य नियम सभी के तन और मन पर समान रूप से लागू होते हैं। प्रकृति यह नहीं देखती कि इन नियमों का उल्लंघन करने वाला कौन है, कि स जाति और कि स संप्रदाय का है। प्रकृति कि सी संप्रदाय-विशेष के व्यक्ति पर कृपा नहीं करती, न कि सी अन्य पर कोप करती है। मलेरिया मलेरिया है। न हिंदू है न बौद्ध, न जैन है न पारसी, न मुस्लिम है न ईसाई। वैसे ही कुनैन कुनैन है। वह न हिंदू है न बौद्ध, न जैन है न पारसी, न मुस्लिम है न ईसाई। इसी प्रकार क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार न हिंदू हैं न बौद्ध, न जैन हैं न पारसी, न मुस्लिम हैं न ईसाई। वैसे ही इनसे विमुक्त रहना भी न हिंदू है न बौद्ध, न जैन है न पारसी, न मुस्लिम है न ईसाई। विकारों से विमुक्त रहना ही शुद्ध धर्म है। अतः शुद्ध धर्म न हिंदू है, न बौद्ध है, न जैन है, न पारसी है, न मुस्लिम है, न ईसाई है। वह शुद्ध धर्म ही है।

धर्म एक आदर्श जीवन-शैली है, सुख से रहने की पावन पद्धति है, शांति प्राप्त करने की विमल विधा है, सर्वजन-कल्याणी आचारसंहिता है, जो सबके लिए है।

क्या शीलवान, समाधिवान, प्रज्ञावान होना केवल बौद्धों का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह होना केवल जैनियों का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या स्थितप्रज्ञ, अनासक्त, जीवन्मुक्त होना केवल हिंदुओं का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या प्रेम और करुणा से ओत-प्रोत होकर जन-सेवा करना केवल ईसाइयों का ही धर्म है? औरों का नहीं? क्या जात-पात के भेदभाव से मुक्त रह कर सामाजिक समता का जीवन जीना केवल मुसलमानों का ही धर्म है? औरों का नहीं?

धर्मपालन का मुख्य उद्देश्य है हम आदमी बनें। अच्छे आदमी बनें। अच्छे आदमी बन जायेंगे तो अच्छे हिंदू, अच्छे बौद्ध, अच्छे जैन, अच्छे मुसलमान, अच्छे ईसाई आदि बन ही जायेंगे। यदि अच्छे आदमी ही नहीं बन सके तो बौद्ध बने रहने से भी क्या हुआ? हिंदू, जैन, ईसाई, मुसलमान आदि बने रहने से भी क्या हुआ?

धर्म की इस शुद्धता को समझें और धारण करें। हम सबके जीवन में शुद्ध धर्म जागे। निस्सार छिलकों का अवमूल्यन हो, उन्मूलन हो; शुद्ध सार का सही मूल्यांकन हो, प्रतिष्ठापन हो। शुद्ध धर्म जीवन का अंग बन जाय। इसी में हमारा सच्चा कल्याण, सच्चा मंगल समाया हुआ है।